श्रेष्ठतम कर्म 'यज्ञ' की व्यापकता

[–प्रो० नरेश कुमार धीमान्, चेयर प्रोफेसर, महर्षि दयानन्द सरस्वती चेयर (यूजीसी),
महर्षि दयानन्द सरस्वती विश्वविद्यालय, अजमेर (राजस्थान)]

[**निर्देश** – स्पष्टता के लिए सर्वत्र उदात्त अक्षर के ऊपर 'उ' (क) तथा निघात (= सन्नतर) अक्षर के नीचे अर्धचन्द्र (कु) का प्रयोग किया गया है। मन्त्र एवं पदपाठ में शिरोरेखा से ऊपर निर्दिष्ट अङ्क कण्डिका-मन्त्र के सूचक हैं तथा शिरोरेखा के समवर्ती अङ्क मन्त्र में पादविभाजन के सूचक हैं। छन्दोनाम के समक्ष कोष्ठक में प्रदत्त संख्या अभीष्ट छन्द की अक्षरगणना की परिचायक है। + अथवा - चिह्न के साथ प्रदत्त संख्या छन्द में एक या दो अक्षरों की न्यूनता वा अधिकता को प्रदर्शित करती है, जो छन्दोनाम के साथ उल्लिखित निचृत्-भुरिक्-विराट्-स्वराट् विशेषणों की पोषक है।]

[ऋषिः–परमेष्ठी प्रजापतिः, देवता–सविता, छन्दः–स्वराड् बृहती (३६+२), +ब्राह्म्युष्णिक् (४२), स्वरः–मध्यमः, +ऋषभः]

विषयः– अथोत्तमकर्मसिद्ध्यर्थमीश्वरः प्रार्थनीय इत्युपदिश्यते॥

(उत्तम कार्यों की सिद्धि के लिये मनुष्यों को ईश्वर की प्रार्थना अवश्य करनी चाहिए, इस विषय का प्रकाश यजुर्वेद के इस प्रथम मन्त्र में किया गया है।)

इषे त्वो[१]र्जे त्वा[२] वायव स्थ[३] देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मण[४]ऽ आ प्यायध्वमघ्न्याऽ इन्द्राय भागं +प्रजावतीरनमीवाऽ अयक्ष्मा[५] मा व स्तेनऽ ईशत माघशꣳसो[६] ध्रुवाऽ अस्मिन् गोपतौ स्यात[४] बह्वी[७]र्यजमानस्य पशून् पाहि[८] ॥ यजु०१.१ ॥

[अनुदात्ताः-०, निघाताः-१९, उदात्ताः-२४, स्वरिताः-१६, प्रचयाः-२१ = ८० अक्षराणि, कण्डिका-मन्त्राः-५, पादाः-८]

पदपाठः– इषे। त्वा।[१] ऊर्जे। त्वा।[२] वायवः। स्थ।[३] देवः। वः। सविता। प्र। अर्पयतु। **श्रेष्ठतमायेति श्रेष्ठऽतमाय।** कर्मणे।[४] आ। प्यायध्वम्। अघ्न्याः। इन्द्राय। भागम्। **प्रजावतीरिति प्रजाऽवतीः।** अनमीवाः। अयक्ष्माः।[५] मा। वः। स्तेनः। ईशत। मा। **अघशꣳस इत्यघऽशꣳसः।**[६] ध्रुवाः। अस्मिन्। **गोपताविति गोऽपतौ।** स्यात। बह्वीः।[७] यजमानस्य। पशून्। पाहि[८]॥ १॥

[अनुदात्ताः-२५, निघाताः-२३, उदात्ताः-३२, स्वरिताः-१३, प्रचयाः-१२ = १०५ अक्षराणि, अवगृहीतपदानि-४, गलितपदानि-०, सकलपदानि-३५]

सम्पादकीय टिप्पणी– महर्षि दयानन्द सरस्वती के वेदभाष्य में प्रदत्त 'संस्कृत पदार्थ' पर आधारित यह 'दयानन्द-भाष्य बोधामृत' कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। मन्त्र तथा पदपाठ में उदात्त एवं निघात स्वरों का चिह्नाङ्कन, अनुदात्तादि स्वरों का परिगणन, मन्त्र में अक्षरों की संख्या, कण्डिकामन्त्र एवं पादविभाजन आदि का निर्देश प्रथम बार हुआ है। शुद्धतम स्वराङ्कन तथा स्वरों के परिगणन के लिए लेखक ने स्वयं ही कम्प्यूटर-एप्लीकेशन का विकास किया है और वैदिक-स्वर पद्धति को गणितीय स्वरूप प्रदान किया है, जो इस क्षेत्र में अनूठा प्रयास

मन्त्र-पद	संस्कृत-पदार्थ (म० द० स०)	दयानन्दभाष्य-बोधामृत
इषे	अन्नविज्ञानयोः प्राप्तये॥ इषमित्यन्ननामसु पठितम्। (निघं०२.७) इषतीति गतिकर्मसु पठितम्॥ (निघं०२.१४) अस्माद्धातोः क्विपि कृते पदं सिध्यति॥	हे विज्ञानस्वरूप परमेश्वर! अन्न और अन्न की प्राप्ति के विज्ञान को प्राप्त करने के लिए
त्वा	विज्ञानस्वरूपं परमेश्वरम्॥	हम आपकी उपासना करते हैं।
ऊर्ज्जे	पराक्रमोत्तमरसलाभाय॥ 'ऊग्र्सः'। (शत०५.१.२.८)॥	हे अनन्त पराक्रम और आनन्दरस से परिपूर्ण प्रभु! शक्ति, उत्साह तथा आपके उत्तमोत्तम आनन्दरस को पाने के लिए
त्वा	अनन्तपराक्रमानन्दरसघनम्॥	हम आपकी स्तुति करते हैं।
वायवः	सर्वक्रियाप्राप्तिहेतवः स्पर्शगुणा भौतिकाः प्राणादयः॥ वायुरिति पदनामसु पठितम्। (निघं०५.४) अनेन प्राप्तिसाधका वायवो गृह्यन्ते॥ वा गतिगन्धनयोरित्यस्मात् कृवापा०। (उणा०१।१) अनेनाप्युक्तार्थो गृह्यते॥	जिस प्रकार स्पर्श गुण से युक्त सभी भौतिक प्राण आदि समस्त क्रियाओं की प्राप्ति में कारणभूत होते हैं, वैसे ही हमारे समस्त कर्मों के शक्ति-स्रोत
स्थ	सन्ति॥ अत्र पुरुषव्यत्ययेन प्रथमपुरुषस्य स्थाने मध्यमपुरुषः॥	आप ही हैं।
सविता	सर्वजगदुत्पादकः सकलैश्वर्य्यवान् जगदीश्वरः॥	सकल जगत् का उत्पादक समस्त ऐश्वर्यों का स्वामी, जगदीश्वर,
देवः	सर्वेषां सुखानां दाता सर्वविद्याद्योतकः॥ देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्युस्थानो भवतीति वा यो देवः सा देवता। (निरु०७.१५)॥	समस्त सुखों का दाता तथा समस्त विद्याओं का प्रकाशक सविता देव

है। लेखक ने मन्त्र तथा पदपाठ में उदात्तादि स्वराङ्कन के शुद्ध प्रकाशन के लिए स्वयं ही Yajurved_MDSU01 नामक फोन्ट का निर्माण किया है। 'दयानन्द-भाष्य बोधामृत' में महर्षि के 'संस्कृत पदार्थ' को ही आधार बनाते हुए सहजता से बोधगम्य वाक्यरचना की गई है, जिससे सामान्य पाठक भी मन्त्र के भाव को सरलता से समझ सके। 'तत्त्वबोध' में लेखक ने मन्त्र-पदों में प्रयुक्त स्वरों के आधार पर उनके सूक्ष्मभावों को प्रकट करने का स्तुत्य प्रयास किया है, जो वेदार्थ में स्वरों की उपयोगिता को परिलक्षित करता है। आशा है महर्षि के भाष्य की पोषक इस नव-विधा का सुधी पाठक स्वागत करेंगे।

–डॉ. वेदपाल

मन्त्र-पद	संस्कृत-पदार्थ (म० द० स०)	दयानन्दभाष्य-बोधामृत
श्रेष्ठतमाय	अतिशयेन प्रशस्तः श्रेष्ठः सोऽतिशयितः श्रेष्ठतमः तस्मै यज्ञाय॥	यज्ञ कहलाने योग्य लोकोपकारक श्रेष्ठतम
कर्मणे	कर्तुं योग्यत्वेन सर्वोपकारार्थाय॥	कर्मों की सिद्धि के लिए
वः	युष्माकम्॥	आपको, हमको सभी को
प्र, अर्पयतु	प्रकृष्टतया संयोजयतु॥	भली प्रकार प्रवृत्त करे। अर्थात् हम सदैव याज्ञिक भाव से श्रेष्ठ कर्म ही करें, जो हम सभी के लिए उपकारक हो, जिससे जड़-चेतन किसी की भी हानि न हो।
आ, प्यायध्वम्	आप्यायामहे वा॥ अत्र पक्षे व्यत्ययः॥	परस्पर इस उपकारी वृत्ति से आप हम सब नित्य उन्नति करें।
अघ्न्याः	वर्धयितुमर्हा हन्तुमनर्हा गाव इन्द्रियाणि पृथिव्यादयः पशवश्च॥ 'अघ्न्या इति गोनामसु पठितम्'। (निघं०२।११)॥	हम अपनी इन्द्रियों का दुरुपयोग न करके आत्मघाती न बनते हुए, भौतिक पदार्थों का अनावश्यक दोहन न करके पार्थिव-हत्या के पाप से बचते हुए तथा अपने स्वार्थ या मनोरंजन के लिए गाय आदि जीवों पर अत्याचार न करते हुए
इन्द्राय	परमैश्वर्य्ययोगाय॥	आपके परम ऐश्वर्य से अपने आप को जोड़ देने के लिए
भागम्	सेवनीयं भागानां धनानां ज्ञानानां वा भाजनम्॥	हम आपके भजनीय स्वरूप का सेवन करते हैं। आपकी कृपा से हमारी इन्द्रियाँ, सभी भोज्य पदार्थ तथा हमारे गाय आदि पशु
प्रजावतीः	भूयस्यः प्रजा वर्त्तन्ते यासु ताः॥ अत्र भूम्न्यर्थे मतुप्॥	निरन्तर शक्ति-सम्पन्न, प्रजावान्,
अनमीवाः	अमीवो व्याधिर्न विद्यते यासु ताः॥ 'अम रोगे' इत्यस्माद् बाहुलकादौणादिक 'ईवन्' प्रत्ययः॥	सामान्य रोगों से रहित, स्वस्थ तथा
अयक्ष्माः	न विद्यते यक्ष्मा रोगराजो यासु ताः॥ यक्ष इत्यस्मात्। अर्त्तिस्तु०। (उणा०१।१३८) अनेन 'मन्' प्रत्ययः॥	यक्ष्मा आदि असाध्य रोगों से रहित हों।

मन्त्र-पद	संस्कृत-पदार्थ (म० द० स०)	दयानन्दभाष्य-बोधामृत
वः	ताः॥ अत्र पुरुषव्यत्ययः॥	आपके सान्निध्य से शक्ति और उत्साह पाकर पराक्रमी बने हम लोगों पर
स्तेनः	चोरः॥	कोई चोर-वृत्ति का भ्रष्टाचारी शासक
मा, ईशत	निषेधार्थे॥ ईष्टां समर्थो भवतु॥ अत्र लोडर्थे लङ्। बहुलं छन्दसि [अष्टा०२.४.७३] इति शपो लुगभावः॥	कभी शासन करने में समर्थ न हो।
मा,	निषेधार्थे॥	न ही पापाचार के प्रशंसक हम पर शासन करें।
अघशंसः	योऽघं पापं शंसति सः॥	
अस्मिन्	वर्त्तमाने प्रत्यक्षे॥	ऐसे निर्लोभ, प्रजा के हितचिन्तक शासक के नेतृत्व में;
गोपतौ	यो गवां पतिः स्वामी तस्मिन्॥	जो गो=इन्द्रियों का स्वामी अर्थात् जितेन्द्रिय हो, वही गो=पृथ्वी, राष्ट्र का नेतृत्व करने वाला हो क्योंकि उसी के नेतृत्व में प्रजा तथा गाय आदि जीवों की रक्षा और वृद्धि संभव है;
बह्वीः	बह्वयः अत्र॥ वा छन्दसि। (अष्टा०६।१।१०६) अनेन पूर्वसवर्णदीर्घादेशः॥	बहुसंख्य प्रजा
ध्रुवाः	निश्चलसुखहेतवः॥	निश्चल सुख को पाने वाली
स्यात	भवेयुः॥	हो।
यजमानस्य	यः परमेश्वरं सर्वोपकारं धर्मं च यजति तस्य विदुषः॥	हे प्रभु! सदैव तुझ परमेश्वर का ही यजन-पूजन करने वाले, सर्वोपकारी, धर्माचरण में प्रवृत्त इस उपासक के
पशून्	गोऽश्वहस्त्यादीन् श्रियः प्रजा वा॥ श्रीर्हि पशवः। (शत०१.६.३.३६) प्रजा वै पशवः॥ (शत०१.४.६.१७)॥	परिवार, धन-सम्पदा तथा गाय-घोड़े आदि पशुओं की चोरवृत्ति भ्रष्टाचारियों से
पाहि	रक्ष॥ अयं मन्त्रः। (शत०१.५.४.१-८) व्याख्यातः॥ १॥	सदैव रक्षा कीजिए।

तत्त्वबोध–

१. इ॒षे – (इषु इच्छायाम्[1], इष गतौ[2] + क्विप् = इष् + ङे = इ॒षे, 'सावेकाचस्तृतीयादिर्विभक्तिः'[3], इत्यन्तोदात्तः = इ॒षे) जीवन निर्वाह के लिए प्राथमिक आवश्यकता अन्न की होती है, स्वभावतः अन्न-प्राप्ति ही प्राथमिक इच्छा भी रहती है। अन्न से ही शरीर को गति प्राप्त होती है।

२. ऊ॒र्जे – (ऊर्ज बलप्राणनयोः[4] + क्विप् = ऊर्ज् + ङे = ऊर्जे, 'सावेकाचस्तृतीयादिर्विभक्तिः'[5], इत्यन्तोदात्तः = ऊ॒र्जे) अन्न केवल भूख की निवृत्ति मात्र के लिए न हो, अपितु वह ऊर्जा देने वाला भी होना चाहिए, जिससे शरीर में बल एवं प्राणशक्ति का संचार हो।

३. विवाह संस्कार में सप्तपदी के नाम से प्रचलित सात संकल्पों में 'इषे एकपदी भव' तथा 'ऊर्जे द्विपदी भव' का साक्षात् दर्शन इस मन्त्र में होता है। अप्रत्यक्ष रूप में शेष पाँच संकल्प भी इसी मन्त्र में निहित हैं।

४. श्रे॒ष्ठ॑तमाय, क॒र्म॑णे – श्रे॒ष्ठ॑तमाय, क॒र्म॑णे – अन्न से प्राप्त ऊर्जा का उपयोग किसके लिए हो? श्रेष्ठतम कर्म के लिए। शतपथ ब्राह्मण 'श्रेष्ठतम कर्म' को 'यज्ञ' नाम देता है – 'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म'[6]। इस 'यज्ञ' अर्थात् 'श्रेष्ठतम कर्म' को ही यजुर्वेद में प्रथम धर्म कहा गया है।[7]

वेद में की गई प्रार्थनाएँ केवल वचन मात्र की प्रार्थनाएँ नहीं हैं अपितु प्रार्थना के अनुरूप पुरुषार्थ करना भी आवश्यक है। प्रार्थना से उपासक को आत्मबल प्राप्त होता है, जिससे वह और भी उत्साह से 'श्रे॒ष्ठ॑तमाय, क॒र्म॑णे' उत्तमोत्तम कर्म के लिए प्रवृत्त होता है।

प्रशस्य + इष्ठन् = श्र + इष्ठन् (प्रशस्य श्रः[8]) = श्रेष्ठः। पुनः अतिशायन अर्थ में ही 'तमप्' प्रत्यय करके श्रेष्ठतम शब्द निष्पन्न होता है। 'इष्ठन्' प्रत्यय नित् होने से 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्'[9] सूत्र से 'श्रे॒ष्ठ' शब्द आद्युदात्त हुआ, पुनः 'तमप्' प्रत्यय पित् होने से तथा प्रयुक्त 'ङे' विभक्ति भी पित् होने 'अनुदात्तौ सुप्पितौ'[10] सूत्र से अनुदात्त हुए और इस प्रकार 'श्रे॒ष्ठ॑तमाय' यह सम्पूर्ण पद आद्युदात्त हुआ। 'क॒र्म॑णे' पद में डुकृञ् करणे धातु से कर्म में 'सर्वधातुभ्यो मनिन्'[11] सूत्र से मनिन् प्रत्यय होकर 'कर्मन्' शब्द बना। चतुर्थी विभक्ति में प्रयुक्त 'ङे' प्रत्यय अनुदात्त है, 'मनिन्' प्रत्यय के नित् होने से 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्'[12] से 'कर्मणे' शब्द आद्युदात्त हुआ। इसप्रकार 'श्रे॒ष्ठ॑तमाय, क॒र्म॑णे' ये दोनों पद ही विशेषण विशेष्य बनकर सम्प्रदान में प्रयुक्त चतुर्थी विभक्ति की प्रधानता न बताकर श्रेष्ठतम कर्म की प्रधानता को अभिव्यक्त कर रहे हैं।

५. आ, प्याय॒ध्वम् – यज्ञ ही क्यों? क्योंकि परस्पर सर्वविध उन्नति का आधार यह 'यज्ञ' अर्थात् 'श्रेष्ठतम कर्म' ही होता है। वेद में प्रयुक्त 'यज्ञ' शब्द बहुत व्यापक एवं उदात्त अर्थ वाला है। इसे केवल 'अग्निहोत्र' शब्द के साथ जोड़कर देखना न्यायसंगत नहीं है। यज्ञीय व्यवहार में वे सब संभावनाएँ निहित होती हैं, जिनसे उन्नति के समस्त द्वार खुल जाते हैं। शतपथकार ने 'श्रेष्ठतम कर्म' को 'यज्ञ' नाम बहुत ही

---

१. दिवादिगण, परस्मैपदी।

२. तुदादिगण, परस्मैपदी। ३. अष्टा० ६.१.१६२॥

४. चुरादिगण, परस्मपदी। ५. अष्टा० ६.१.१६२॥

६. 'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म' – शत० ब्रा०१.७.१.५॥

७. य॒ज्ञेन॑ य॒ज्ञम॑यजन्त दे॒वास्तानि॒ धर्मा॑णि प्रथ॒मान्या॑सन्॥ –यजु० ३१.१६॥

८. अष्टा० ५.३.६०॥

९. अष्टा० ६.१.१९७॥

१०. अष्टा० ३.१.४॥

११. उणादि० ४.१४५॥

१२. अष्टा० ६.१.१९७॥

सार्थक दिया है। 'यज्ञ' शब्द में देवपूजा, दान तथा सङ्गतिकरण का भाव निहित है। सामाजिक दृष्टि से यज्ञीय व्यवहार से तात्पर्य ऐसे व्यवहार से है जिसमें सब परस्पर एक-दूसरे का आदर करते हों (१); एक-दूसरे के लिए त्याग करते हों, ऐसा त्याग, ऐसा दान, ऐसा सहयोग जिसके बदले में कुछ भी लेने की कामना न हो (२) और परस्पर मेल-मिलाप, संगठित रहने के भाव की अभिवृद्धि हो (३)। ऐसी तीन सम्पत्तियों से युक्त यज्ञीय व्यवहार से ही विश्व में, राष्ट्र में, समाज में, परिवार में तथा व्यक्तिगत जीवन में 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का भाव चरितार्थ होता है। 'श्रेष्ठ' इतने से ही बात कही जा सकती थी, परन्तु अतिशायन अर्थ में ही पुनः 'तमप्'[१३] प्रत्यय जोड़कर कहने से कथ्य में और भी बल आ गया है। श्रेष्ठतम अर्थात् श्रेष्ठों में भी श्रेष्ठ। यज्ञ की तीनों सम्पत्तियों में से प्रत्येक स्वयं में श्रेष्ठ है, परन्तु जहाँ ये तीनों समेकित होकर उपस्थित होती हैं, वह व्यवहार, वह कर्म ही 'श्रेष्ठतम' कोटि में आता है, उसे शतपथकार 'यज्ञ' शब्द से संबोधित करते हैं।

लोक में धन-सम्पन्न व्यक्तियों के लिए 'श्रेष्ठ' शब्द का तत्सम 'सेठ' शब्द प्रचलित है। निश्चित ही 'सेठ' शब्द का सम्मानजनक सम्बोधन समाज ने ऐसे यज्ञीय व्यवहार वाले धनपतियों के लिए दिया होगा जो अपने धन का सदुपयोग समाज में यज्ञीय सम्पत्तियों के विस्तार में करते रहे होंगे। वे अपने अर्जित धन से विद्वानों का आदर, लोकोपकार के लिए पेयजल की व्यवस्था, तालाब, शिक्षणालय, वेदप्रचार आदि के लिए दान तथा समाज को संघटित करने के प्रयासों के लिए करते रहे होंगे, तभी तो उन्हें उनके यज्ञीय व्यवहार के अनुरूप 'सेठ' '=श्रेष्ठ' जैसा पवित्र सम्बोधन प्राप्त हुआ है। आरम्भ में यह शब्द यौगिक अर्थ वाला ही था, शनैः शनैः यह सामान्य धनपतियों के लिए भी प्रयोग किया जाने लगा, भले ही वह यज्ञीय व्यवहार के विपरीत असहायों के तिरस्कार में संलग्न, सामाजिक शोषण में लिप्त तथा विघटनकारी प्रवृत्तियों को बढ़ाने में ही अपने धन का व्यय क्यों न करता हो।

६. अघ्न्याः, इन्द्राय – परमात्मा के ऐश्वर्य से जुड़ने की योग्यता 'अघ्न्य' अर्थात् अहिंसक होना है। निघण्टुकार इस शब्द का पाठ 'गो' नामों में करता है।[१४] 'गो' के अनेक अर्थ हैं– इन्द्रिय, पृथिवी तथा गाय आदि। यदि परमात्मा के ऐश्वर्य का भागी हम स्वयं को बनाना चाहते हैं तो हमें इन तीनों की हिंसा से बचना चाहिए। जब हम अपनी इन्द्रियों का दुरुपयोग नहीं करेंगे, धरती और इसके पदार्थों का अनावश्यक दोहन नहीं करेंगे तथा पशुओं पर अत्याचार नहीं करेंगे तो स्वभावतः इन तीनों के स्वस्थ एवं रोगरहित बने रहने की संभावनाएँ बढ़ जाती हैं। वास्तव में किसी भी प्रकार की हिंसा करना यज्ञीय व्यवहार की उल्लंघना ही है।

७. मा – वेद में दो प्रकार के 'मा' शब्द प्रयुक्त हुए हैं। आद्युदात्त (मा) और सर्वानुदात्त (मा)। आद्युदात्त 'मा' निपातसंज्ञक है[१५], जो निषेधार्थक होता है और सर्वानुदात्त 'मा', 'माम्' (= मुझको) का संक्षिप्त रूप है।[१६] यहाँ आद्युदात्त 'मा' निषेध अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। मन्त्र में 'त्वा' तथा 'वः' पद भी क्रमशः 'त्वाम्' तथा 'युष्माकम्' के संक्षिप्त रूप हैं[१७], जो पादादि में वर्तमान

१३. अतिशायन अर्थ में 'इष्ठन्' तथा 'तमप्' दोनों प्रत्ययों के प्रयोग के विषय में महाभाष्यकार का वचन है– "तदन्ताच्च स्वार्थे छन्दसि दर्शनं श्रेष्ठतमायेति - (भाष्यम्) तदन्तादातिशायिकान्तात्स्वार्थे छन्दसि आतिशायिको दृश्यते - देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणे॥" –अष्टा० ५.३.५५ भाष्य॥ लोक मे भी अनेकत्र ऐसे शिष्ट प्रयोग मिलते हैं– अर्धं आर्या मनुष्यस्य भार्या श्रेष्ठतमः सखा॥ – महाभा० आदि० ७४.४१॥

१४. निघं० २.११॥

१५. निपाता आद्युदात्ताः॥ फिट्० ४.१२॥

१६. त्वामौ द्वितीयायाः॥ अष्टा० ८.१.२३॥, अनुदात्तं सर्वमापादादौ ॥ ८.१.१८॥

१७. त्वामौ द्वितीयायाः॥ अष्टा० ८.१.२३॥, बहुवचनस्य वस्नसौ ॥ अष्टा० ८.१.२३॥

न होने से सर्वानुदात्त हैं।[१८]

८. गोपतौ – गवां पतिः गोपतिः। गम् + डो = गो, 'गमेर्डो'[१९]। प्रत्ययस्वर से 'गो' शब्द अन्तोदात्त है। ऐश्वर्यवाचक पति शब्द के साथ षष्ठी तत्पुरुष समास को प्राप्त होकर 'गोपतिः' शब्द 'पत्यावैश्वर्ये'[२०] सूत्र से आद्युदात्त हुआ। वेद में प्रयुक्त सभी पद यौगिक होते हैं, अतः उनके गूढार्थ को जानने के लिए सर्वप्रथम प्रयुक्त पद के प्रकृति-प्रत्यय को अवश्य जानना चाहिए। फिर उसी के अनुरूप उसमें प्रयुक्त स्वर को देखना चाहिए। पद के जिस अंश पर उदात्त स्वर होता है, उसी अंश का अर्थ उस पद में प्रधान होता है, यह वेदार्थ करने में सामान्य नियम है। केवल लौकिक शब्दकोषों के आधार पर वेदमन्त्रों का अर्थ करना न्यायसंगत नहीं होता। यहाँ 'गोपतौ' पद में 'गो' अंश पर उदात्त स्वर होने से इन्द्रियबल की प्रधानता है। राजा की योग्यता इन्द्रियबल से ऐश्वर्यवान् होने में है, केवल सत्तावान् होने में नहीं। यदि सत्तावान् होने मात्र से वेद का तात्पर्य होता तो 'गोपति' शब्द 'समासस्य'[२१] सूत्र से अन्तोदात्त होकर 'गोपतौ' ऐसा प्रयुक्त होता।

इस प्रकार राजा की योग्यता 'गोपति' है; गोपति अर्थात् अपनी इन्द्रियों के बल से ऐश्वर्यशाली। जितेन्द्रिय राजा ही सदाचारण संपन्न होता है, वह किसी भी प्रकार का भ्रष्टाचार न स्वयं करता है, न अपने सहयोगियों अथवा प्रजा को ही इसकी अनुमति देता है। ऐसा शासक ही राष्ट्र और प्रजा के लिए निश्चल सुख और उनकी सर्वात्मना उन्नति का कारण बनता है।

९. यजमानस्य – यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु + शानन् (पूङ्-यजोः शानन्)[२२] । यहाँ भी 'शानन्' प्रत्यय के नित् होने से 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्'[२३] सूत्र से 'यजमानस्य' पद आद्युदात्त हुआ। यहाँ यज् धातु के अर्थ की प्रधानता है, वर्तमानकालिक 'शानन्' प्रत्यय की नहीं। यजमान अर्थात् "परस्पर आदर करने वाला, विनिमय के भाव से शून्य त्यागपूर्ण व्यवहार करने वाला था परिवार समाज आदि में सबको संघटित करके चलनेवाला" –इन तीन विशेषताओं से युक्त यज्ञीय व्यवहार में निरन्तर संलग्न रहनेवाला उपासक।

१०. मन्त्र में "स्थ, अर्पयतु, प्यायध्वम्, ईशत, स्यात, पाहि" –ये छः तिङ्ङन्तपद = क्रियापद प्रयुक्त हुए हैं। इन सभी तिङ्ङन्त पदों से पूर्व कोई-न-कोई अतिङ्ङन्त पद विद्यमान होने से ये सभी सर्वानुदात्त हो गए।[२४] क्रियापदों का इस प्रकार सर्वानुदात्त होना वैदिक व्याकरण का सामान्य नियम है। मन्त्र में यदि क्रियापद सर्वानुदात्त होकर प्रयुक्त हुआ है तो पदपाठ में भी उसे सर्वानुदात्त ही प्रदर्शित करने का नियम है, उसे उसके मूल-स्वर के साथ प्रदर्शित नहीं किया जाता। उपर्युक्त क्रियापदों के मूलस्वर इस प्रकार हैं – "स्थ, अर्पयतु, प्यायध्वम्, ईशत, स्यात, पाहि"।

११. यजुर्वेद के प्रथम मन्त्र में 'श्रेष्ठतम कर्म' अर्थात् यज्ञीय व्यवहार को समस्त उत्तम कर्मों की सिद्धि का हेतु बताया है। जिसकी पुष्टि अन्तिम अध्याय में पठित मन्त्र से होती है।[२५] जिसमें आजीवन श्रेष्ठतम यज्ञीय कर्म करने का आदेश दिया गया है, ऐसा कर्म जिसको करते हुए कर्ता, कर्ता होकर भी अकर्ता बन जाता है और उसमें कर्मजन्य किसी दोष का लेप नहीं होता। ये यज्ञीय कर्म ही उस उपासक 'नर' की मुक्ति का साधन बन जाते हैं, अन्य कोई मार्ग भी तो नहीं।

---

१८. अनुदात्तं सर्वमपादादौ ॥ ८.१.१८॥

१९. उणादि० २.६७

२०. अष्टा० ६.२.१८

२१. अष्टा० ६.१.१९७॥

२२. अष्टा० ६.१.२२३॥

२३. अष्टा० ३.२.१२८॥

२४. तिङ्ङतिङः॥ अष्टा० ८.१..२८॥

२५. "कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः। एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥" –यजु० ४०.२॥